द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श (२)

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (वेदविज्ञान)
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

(गतांक से आगे)

इसी प्रकार तीसरा मत भी प्राप्त होता है कि द्यौ सूर्य ही है। पृथ्वी आग्नेयी है। इस मत का उल्लेख भी पं. मधुसूदन ओझा ने प्रस्तुत किया है-

'द्यौ सूर्य है, वह ऐन्द्र है, क्योंकि वह द्यौ इन्द्र ही है। पृथ्वी आग्नेयी है अतः वही अग्नि भी है।' (अहोरात्रवाद-7/5/20)

यह मत तैत्तिरीय संहितानुसार कहा गया है। इसके अनुसार सूर्य ही द्यौ है। इन्द्ररूप वाले स्वयं द्यौ के सूर्य में प्रतिष्ठान के कारण सूर्य ऐन्द्र कहा गया है। वही भासित होता है। द्योतमान होने के कारण वही द्यौ कहा गया है। उसके द्योतमान होने से ही ग्रह नक्षत्र तारे आदि भासित होते हैं। भाष्यकार सायण इस विषय में लिखते हैं-

द्यौ रूपी आदित्य ही मेरा पालक एवं जन्मदाता है। यहाँ द्यु में केन्द्रीभूत भौम रस विद्यमान है। उससे अन्न, अन्न से वीर्य तथा उस वीर्य से मनुष्य उत्पन्न होता है, ऐसा परम्परया जनकत्व माना गया है। जनकत्व को नियमित करने वाली यह पृथ्वी मातृस्थानीया है। अर्थात् जिस प्रकार लोक में प्राणियों के माता पिता होते हैं, ठीक वैसे ही द्यौरूपी सूर्य ही सब प्राणियों का पितृस्थानीय है तथा पृथ्वी मातृस्थानीया है। माता पिता रूपी द्यौ एवं पृथिवी से सभी पदार्थ निष्पन्न होते हैं।

इस मत के अनुसार द्यौ सूर्य ही सभी देवताओं का रश्मि रूप से धारणकर्त्ता है और पृथ्वी प्राणियों की धारण करने वाली है। द्यौ ज्योतिर्मयी है, जबकि पृथ्वी वाङ्मयी है। जैसा कि कहा गया है -

जो प्रकाशमान देवता हैं, वे सब द्युलोक में ही संस्थित हैं। जो शब्दोच्चारण करने वाली प्राणी हैं, वे पृथ्वी पर ही संस्थित हैं। देवता एवं प्राणी ही सृष्टि कहे गये हैं। प्राणियों में भी देवता ही संस्थित होते हैं। (अहोरात्रवाद - 7/5/24)

अनेक महर्षियों ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि प्राचीन काल में महर्षि विश्वामित्र ने द्युलोक एवं पृथ्वीलोक दोनों की स्थिरता का प्रतिपादन किया था, जो ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है ।

किन्तु विचारणीय यह है कि सूर्य की प्रतीयमान स्थिरता नहीं हैं, अतः सूर्य कैसे द्यौ संज्ञा को प्राप्त कर सकता है। और भी, भूगम्य मार्ग की स्थिरता की अपेक्षा से ही इन दोनों द्यौ एवं पृथ्वी की समानान्तरता संगत होती है।

यहाँ सायण अपने भाष्य में द्यौ एवं पृथ्वी का समानान्तर होना लिखते हैं। सामान्य का तात्पर्य है समानभाव को प्राप्त वाले होकर जाग्रत की भाँति कर्म में तत्पर रहते हैं। ये दोनों द्यौ एवं पृथिवी स्थिर एवं अचल हैं। और भी, युवती बहनों की भाँति ये दोनों युगपत् संस्थित हैं, अतः बाद में द्वन्द्वनाम से कहे जाते हैं। ऊर्वी का अर्थ है पृथिवी, किन्तु यह शब्द द्यावापृथिवी के लिए भी आता है। 'बहुले' शब्द दूर का वाचक होने के साथ साथ द्यावापृथिवी का भी वाचक है। 'अन्ते' शब्द, 'रोदसी' शब्द तथा 'पुरोहिते' शब्द भी द्वन्द्वसूचक पद हैं जो द्यावापृथिवी के लिए व्यवहृत होते हैं। स्वयं ही विरोध के कारण जो सरण करती है अर्थात् अन्य कुल में गमन करती है, उसे स्वसा कहते हैं। ये दोनों एक दूसरे की ओर गतिशील होते हुए भी एक दूसरे से मिश्रित एवं अमिश्रित स्थिति वाले हैं। ये अचल स्थान के रूप में स्थित हैं। इस कथन में संचरण करते हुए इन दोनों के नियत अन्तर से इनके योग को प्रदर्शित करते हैं। इस अभिप्राय से ही कहते हैं, कि ये सामान्य हैं तथा वियुत (पृथक्) हैं। इस प्रकार सक्रिय इन दोनों का सदैव समानान्तर होना सूचित किया गया है।

ऐसा मानने पर तो सूर्य एवं पृथिवी का सदैव समानान्तर होना उपपन्न नहीं होता। जैसा कि गर्मी के प्रारम्भ में सूर्य और पृथिवी के बीच का अन्तर समान न होकर अधिक हो जाता है, किन्तु सर्दी के प्रारम्भ में वही अन्तर न्यून हो जाता है, ऐसा ज्योतिष वेदाङ्ग से भी प्रमाणित हैं। अतएव महर्षि वत्सार, बृहस्पति, एवं नकुल प्रतिपादित करते हैं कि द्यौ सूर्य नहीं है। सूर्य तो द्यौ के मध्य में विद्यमान है। द्यौ तो लोकों एवं दिशाओं को आवृत्त करता है, जबकि सूर्य उन लोकों एवं दिशाओं को विवृत करता है। अतएव द्यौ सूर्य से भिन्न है। स्वरूप की दृष्टि से भी वह भिन्न ही है। अतएव पं. ओझा महोदय लिखते हैं-

'सूर्य द्यौ नहीं है वह तो द्यौमध्य में स्थित हो कर उन लोकों को विवृत करता हुआ दिशाओं को विवृत करता है। ऐसा महर्षि वत्सार, बृहस्पति एवं नकुल ने भी कहा है।' (अहोरात्रवाद - 7/7/8)

एक अन्य मत यह है कि व्योम अर्थात् आकाश ही द्यौ है। देवताओं की प्रवृत्ति (कार्यारम्भ) उस आकाश से ही होती है। जैसे प्राणियों (सजीवों) का प्रवृत्तिस्थान पृथ्वी है, ठीक उसी प्रकार देवताओं का प्रवृत्ति स्थान द्यौ अर्थात् व्योम (आकाश) ही है। उससे भिन्न नहीं है। अहोरात्रवाद में इस मत का निरूपण निम्न शब्दों में किया गया है-

'द्यौ व्योम को कहते हैं क्योंकि उन देवताओं से वही लक्षित होता है। गो, देव एवं कुल की प्रवृत्तियाँ भी उस

व्योम से ही सम्भव होती हैं।' (अहोरात्रवाद - 7/8/3)

किन्तु व्योम या आकाश की शून्य होने के कारण द्यौरूपता सिद्ध नहीं होती। और न ही उसका लोक होना उपपन्न होता है। जैसे पृथ्वीलोक शून्य नहीं है अपितु आधारमय है, वैसे ही द्यौ भी आधारमयी होनी चाहिए। और भी, यदि व्योम (आकाश) को ही द्यौ मानें, तब तो उसका कोई स्वरूप ही नहीं होगा। अतः व्योम के स्वरूप की अनिर्वचनीयता के कारण भी द्यौरूपता असिद्ध ही है। इस मत का यह खण्डन भी वहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

'मतान्तर में व्योम अकेला द्यौ नहीं है। वह तो अनिर्वचनीय है। उसे यहाँ अन्तरिक्ष शब्द से भी कहा जाता है। पृथ्वी की भाँति ही वह द्यौ तो निर्वचनीय स्वरूप वाली, मूर्त्तिमती (आकारमयी) तथा प्रकट में दृश्यमान मानी जाती है।' (अहोरात्रवाद - 7/8/13)

अब कोई दूसरे विद्वान् कहते हैं, कि यह द्यौ संवत्सर नाम से कहा जाता है। यहाँ संशय होता है कि अन्यत्र वेद में वही संवत्सर प्रजापति है ऐसा भी कहा गया है। और भी, ज्योतिष वेदांग में संवत्सर काल का निर्वाहक मात्र है ऐसा माना गया है। वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। फिर उसकी लोकरूपता कैसे हो सकती है ?

श्रुति में और भी कहा गया है -

'यह प्रजापति बारह स्वरूपों से परिच्छिन्न है। अग्नि, आदित्य, सोम, पशु, वायु, मृत्यु, पृथ्वी, द्यौ, अग्नि, आदित्य, मन एवं संवत्सर ये इसके बारह स्वरूप हैं।'

इस श्रुति में द्यौ को संवत्सर से पृथक् कहा गया है। यदि ऐसा है तो द्यौ कैसे संवत्सर हो सकता है। इस विषय में कहते हैं, कि द्यौ को उपलक्षण रूप से संवत्सर कहा गया है, क्योंकि सूर्यरश्मियों में विद्यमान प्रकाशमय सभी प्राण नाना धर्मों में विभक्त देव ही हैं, ऐसा कहा जाता है। और वे जहाँ जहाँ गति करते हैं, वहाँ वहाँ द्यौ होता है। इस प्रकार इस 'द्यौ' का सम्बन्ध देवताओं की गति से है, न कि स्थान विशेष से।

और यह भी कहा गया है कि सूर्यमण्डल को ही 'स्वः' शब्द से कहा गया है। देवता वहाँ से गति का आरम्भ करते हैं तथा वहीं वापस लौट आते हैं। अतएव सूर्यमण्डल से ले कर जहाँ तक सूर्यरश्मियों का फैलाव होता है, वहाँ तक का स्थान ही द्यौ है, ऐसा मानना चाहिए। इस विषय में श्रुति भी निर्देश करती है -

'यह जो गति है वही प्रतिष्ठा है। जो यह सूर्य तपता है, उसकी जो रश्मियाँ हैं वे शोभनकार्य वाली हैं तथा उनकी जो उत्कृष्ट प्रभा है, वही प्रजापति है तथा वही स्वर्ग नामक लोक है।'

इस प्रकार उपलक्षण से ही इस द्यौ की स्वर्ग संज्ञा भी उपपन्न होती है। वह द्यौ या स्वर्ग इस देवगति का आधार है। जैसे पृथ्वी प्राणियों की गति का आधार है, उसी प्रकार द्यौ देवताओं की गति आधार है और जैसे प्राणी पृथ्वी पर स्थित रहते हुए जीते हैं, वैसे ही देवता भी द्यौ में रहते हुए ही प्रकाशित रहते हैं।

कुछ अन्य विद्वान कहते हैं - 'ऋचाओं का देवता अग्नि है तथा पृथ्वी उसका स्थान है। सामों का देवता आदित्य है तथा द्यौ उसका स्थान है।' (गोपथ - 1/29)

इस मत के अनुसार पृथ्वी अग्निदेवता की स्थिति का आधार है। पृथ्वी के बिना अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती। यह अग्नि मूलतः वैश्वानर नाम वाला है। इसी के कारण 'अग्निगर्भा पृथिवी है' यह भी श्रुति में कहा गया है। इसी प्रकार आदित्यदेवता की संस्थिति का आधार द्यौ है। द्यौ के अभाव में आदित्य आविर्भूत नहीं हो सकता। यह आदित्य मूल रूप में इन्द्र है। इसी कारण 'यह द्यौ इन्द्र से गर्भ धारण करती है' ऐसा भी श्रुति में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र के आविर्भाव के पश्चात् ही द्यौ में पाँच प्रकार के सृष्टिबीजों का वपन सम्भव होता है। पृथ्वी के ही यज्ञमय एवं अन्नमय होने के कारण वे सृष्टिबीज पृथ्वी के प्रति सक्रिय हो जाते हैं अर्थात् वे पृथ्वी की ओर गतिशील हो जाते हैं। उन्हीं से यह सृष्टि सम्भव होती है।

'द्यौ' के मनोमय होने के कारण पदार्थों की उपकल्पना सम्भव होती है। इसी प्रकार पृथ्वी के वाङ्मय होने के कारण पदार्थों में सजीव भी सम्भव होते हैं। 'वाक् और मन ये दोनों हविर्धान हैं' ऐसा कौशीतकि श्रुति में भी कहा है। द्यावापृथिवी के विषय में तो पहले ही भगवान् एतरेय ने भी कहा है - 'द्यावापृथिवी देवताओं के हविर्धान थे। वे ही आज भी उनके ही हविर्धान हैं।' इस प्रकार वास्तव में तो द्यावापृथिवी ही सोम रूपी हवि को धारण करते हैं। अतएव सोम ही इनका गर्भ कहा गया है। गर्भ में विराजमान होने से यही सोम राजा भी कहा गया है।

'द्यावापृथिवी का यह जो गर्भ है, वही सोम नाम राजा है।' इस प्रकार द्यावापृथिवी के स्वरूप एवं स्वरूपगत वैशिष्ट्य को कहा गया।